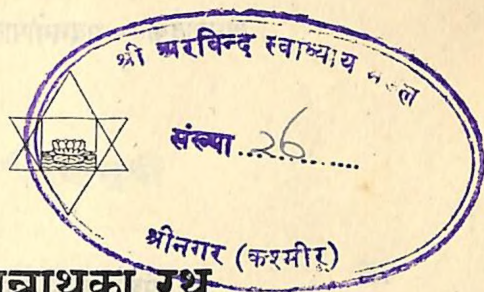


जगन्नाथका रथ

श्रीअरविन्द



जगन्नाथका रथ

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द-ग्रंथमाला
१६ र्यू देबासैं द रिशमों
पांडोचेरी

अनुवादक—मदनगोपाल गाड़ोदिया

प्रकाशक—चन्द्रदीप
श्रीअरविन्द-ग्रन्थमाला
१६ र्‍यू देबासैं द रिशमों,
पांडीचेरी
16, Rue Desbassin de Richemont
Pondicherry

मई १९४६

द्वितीय संस्करण
१५००

मूल्य ॥)

विषय-सूची

जगन्नाथका रथ

आदर्श समाज ही है, मनुष्य-समष्टिके अंतरात्मा भगवान्‌का वाहन, जगन्नाथकी यात्राका रथ। एकता, स्वाधीनता, ज्ञान और शक्ति इस रथके चार चक्के हैं।

मनुष्यकी बुद्धिद्वारा गठित अथवा प्रकृतिके अशुद्ध प्राणस्पंदनकी क्रियाद्वारा रचित जो समाज है वह दूसरी तरहका है। वह समाज, समष्टिके नियंता भगवान्‌का रथ नहीं है, बल्कि मुक्त अंतर्यामीको आच्छादित कर जो बहु-रूपी देवता भगवद्‌प्रेरणाको विकृत करता है उस समष्टिगत अहंकारका वह वाहन है। वह नाना प्रकारके भोगपूर्ण लक्ष्यहीन कर्म-पथपर, बुद्धिके असिद्ध और अपूर्ण संकल्पके आकर्षणसे, निम्न प्रकृतिकी प्राचीन या नवीन अवश प्रेरणाके वश चलता है। जबतक अहंकार ही कर्त्ता है तबतक प्रकृत लक्ष्यका अनुसंधान पाना असंभव है---लक्ष्यका पता लगनेपर भी उस ओर सीधे रथको ले जाना असाध्य है। अहंकार भागवत पूर्णताका प्रधान बाधक है और यह बात जैसे व्यष्टिके लिये सत्य है वैसे ही समष्टिके लिये भी है।

साधारण मनुष्य-समाजरूपी रथके तीन मुख्य भेद दिखायी देते हैं। पहला है निपुण कारीगरकी सृष्टि, सुंदर, चमचमाता हुआ, उज्वल, निर्मल, सुखकर रथ, जिसे खींच रहा है एक बलवान् सुशिक्षित अश्व, वह अग्रसर हो रहा है सुपथपर, यत्नपूर्वक, धीर-स्थिर गतिसे। सात्त्विक अहंकार इसका स्वामो है, आरोही है। जिस उपरिस्थ उत्तुंग प्रदेशमें भगवान्का मंदिर है, रथ उसके चारों ओर घूम रहा है, किन्तु यह उस स्थानसे थोड़ा अलग-अलग रहता हुआ ही घूमता है, उस उच्च भूमिके एकदम समीप नहीं पहुंच सकता। यदि इस स्थानसे भी ऊपर जाना हो तो नियम यही है कि रथसे उतरकर अकेले पैदल जाया जाय। वैदिक युगके बाद प्राचीन आर्य जातिके समाजको इस प्रकारका रथ कहा जा सकता है।

दूसरा है विलासी कर्मठकी मोटरगाड़ी। धूलकी वृष्टिके अन्दर भीमवेगसे वज्रनिर्घोष करती हुई, राजपथको चूर-चूर करती हुई, अशान्त अश्रान्त गतिसे, वह दौड़ रही है, भोंपेकी आवाजसे कान फटे जा रहे हैं, जिस किसीको वह सामने पाती है उसीको रौंदती-पीसती हुई चली जाती है। यात्रीके प्राण संकटमें रहते हैं, अनवरत दुर्घटनाएं होती हैं; मोटर टूट जाती है, फिर किसी तरह मरम्मत हो जाने-

के बाद उसी तरह गर्वके साथ चलती है। इसका कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं है, किन्तु जो कोई भी नवीन दृश्य कुछ दूरीपर आंखोंके सामने दिखायी पड़ जाता है उसीको मोटरका स्वामी राजसिक अहंकार "यही लक्ष्य है, यही लक्ष्य है" कहकर चिल्लाता हुआ उस ओर दौड़ पड़ता है। इस रथपर चलनेसे यथेष्ट भोग-सुख मिलता है, विपत्ति भी अनिवार्य है, परन्तु भगवान्के निकट पहुंचना असम्भव है। आधुनिक पाश्चात्य समाज इसी तरहकी मोटरगाड़ी है।

तीसरा है मैली, पुरानी, कछुएकी चालसे चलनेवाली, अध-टूटी बैलगाड़ी। इसे खींच रहे हैं दुबले-पतले, भूखसे पीड़ित, अधमरे बैल, यह चल रही है संकीर्ण ग्राम्य-पथपर। मैला-कुचैला कपड़ा पहने, उदरसर्वस्व एक दुर्बल अन्धा बूढ़ा भीतर बैठा हुआ, कीचड़से भरे हुए हुक्केको अत्यन्त सुखपूर्वक पीता हुआ, गाड़ीके कर्कश घड़-घड़ शब्दोंको सुनता हुआ अतीतकी कितनी ही विकृत अर्द्ध-स्मृतियोंमें मग्न हो रहा है। इस मालिकका नाम है तामसिक अहंकार। गाड़ीवानका नाम है पुस्तकमें पढ़ा हुआ ज्ञान, वह पंचांग देख-देखकर चलनेके समय और दिशाका निर्देश करता है, उसके मुंहकी प्रधान बात है, "जो कुछ है या था वही अच्छा है, जो कुछ होनेकी चेष्टा करता है वही

खराब है ।" इस रथसे भगवान्के निकट पहुंचनेकी न सही, शून्य ब्रह्मके पास शीघ्र ही पहुंच जानेकी पर्याप्त संभावना है ।

तामसिक अहङ्कारकी बैलगाड़ी जबतक गांवोंके कच्चे रास्तेपर चलती है तभीतक उसकी खैर है । जिस दिन वह जगत्के राजपथपर चली आयेगी जहां असंख्य वेगवान् मोटरें दौड़ती हैं, उस दिन उसका क्या परिणाम होगा यह सोचते ही प्राण सिहर उठते हैं । दुःख यही है कि रथको बदलनेका समय पहचानना या स्वीकार करना तामसिक अहङ्कारकी ज्ञानशक्तिके बाहरकी बात है । समयको पहचाननेकी प्रवृत्ति भी उसमें नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे उसका व्यवसाय और अधिकार मिट्टीमें मिल जायेंगे । जब कोई समस्या उपस्थित होती है तो यात्रियों-मेंसे कोई-कोई कहता है, "नहीं, रहने दो, यही अच्छा है, क्योंकि यह हम लोगोंका ही है ।" ये लोग हैं लकीरके फकीर अथवा भावुक देशभक्त । कोई-कोई कहता है, "इधर-उधरसे कुछ मरम्मत कर न लो ।" इसी सहज उपायसे मानो बैलगाड़ी तुरत एक अनिन्द्य, अमूल्य मोटरमें परिणत हो जायगी !—इनका नाम है संस्कारक । कोई-कोई कहता है, "प्राचीन कालका सुन्दर रथ फिरसे लौट

आये।" ये लोग इस असाध्य साधनका उपाय भी ढूंढ़ निकालनेका प्रयास कभी-कभी करते हैं। किन्तु आशाके अनुसार फल होगा, इसका कोई विशेष लक्षण कहीं भी दिखायी नहीं देता।

इन तीनोंमेंसे यदि एकको पसन्द करना अनिवार्य हो, और भी उच्चतर चेष्टाको यदि हम छोड़ दें, तो सात्विक अहंकारका एक नवीन रथ निर्माण करना ही युक्तिसंगत है। किन्तु जबतक जगन्नाथका रथ नहीं सृष्ट होता तबतक आदर्श समाजका संगठन भी नहीं होगा। वही आदर्श है, वही चरम, गभीरतम, उच्चतम सत्यका विकास और प्रतिकृति है। मनुष्यजाति गुप्त विश्वपुरुषकी प्रेरणासे उसी-को गढ़नेकी चेष्टा कर रही है, किन्तु प्रकृतिके अज्ञानके कारण वह दूसरे ही प्रकारकी प्रतिमाको गढ़ डालती है—यह प्रतिमा या तो विकृत, असिद्ध और कुत्सित होती है अथवा कामचलाऊ, अर्द्धसुन्दर या सौन्दर्ययुक्त होनेपर भी असंपूर्ण होती है। शिवके बदले या तो वह बानरको गढ़ डालती है या किसी राक्षसको अथवा किसी मध्यम लोकके अर्द्ध-देवताको।

जगन्नाथके रथकी ठीक-ठीक आकृति या नमूनेको कोई नहीं जानता, कोई जीवन-शिल्पी, चाहे वह कितना ही

निपुण क्यों न हो, इस रथके नकशेको नहीं आंक सकता। यह छवि विश्वपुरुषके हृदयमें विद्यमान है, नाना आवरणोंसे आवृत है। उसे अनेक द्रष्टा, कर्त्ता भगवत्-विभूतियोंकी अनेक चेष्टाओंके द्वारा धीरे-धीरे बाहर निकालकर स्थूल जगत्में प्रतिष्ठित करना ही अन्तर्यामीका उद्देश्य है।

*

* *

जगन्नाथके इस रथका असली नाम समाज नहीं, संघ है। यह बहुमुखी शिथिल जनसंघ या जनता नहीं है, बल्कि आत्मज्ञानकी, भागवत ज्ञानकी ऐक्यमुखी शक्तिके द्वारा आनन्दपूर्वक गठित, बन्धनरहित, अच्छेद्य संहति है, भागवत संघ है।

अनेक समवेत मनुष्योंके एकत्र कर्म करनेका उपाय जो संहति है, वही समाजके नामसे विख्यात है। शब्दकी उत्पत्ति जाननेसे उसका अर्थ भी जाना जाता है। सम् प्रत्ययका अर्थ है एकत्र, अज् धातुका अर्थ है गमन, धावन, युद्ध। हजारों मनुष्य कर्मके लिये और कामनाकी पूर्तिके लिये एकत्रित होते हैं, एक ही क्षेत्रमें नाना प्रकारके लक्ष्यकी ओर दौड़ते हैं, कौन आगे जाता है, कौन बड़ा होता है, इसी बातपर प्रतिद्वन्द्विता होती है, जैसे अन्य

समाजोंके साथ वैसे ही आपसमें भी युद्ध और झगड़ा होता है—इसी कोलाहलके अन्दर शृङ्खलाके लिये, सहायताके लिये, मनोवृत्तिकी चरितार्थताके लिये अनेक प्रकारके सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं, अनेक प्रकारके आदर्शोंकी प्रतिष्ठा होती है, फलस्वरूप कष्टसिद्ध, असंपूर्ण, अस्थायी एक चीज तैयार होती है—यही समाजका, प्राकृत संसारका स्वरूप है।

भेदकी भित्तिपर प्रतिष्ठित होता है प्राकृत समाज। उसी भेदके ऊपर उसका आंशिक, अनिश्चित और अस्थायी ऐक्य निर्मित होता है। किन्तु आदर्श समाजका गठन ठीक इसके विपरीत होता है। उसकी भित्ति है ऐक्य; और उसमें जो पार्थक्यका खेल होता है वह आनन्द-वैचित्र्यके लिये होता है, भेदके लिये नहीं। समाजमें हमको शारीरिक, मानस-कल्पित और कर्मगत ऐक्यकी आभा मिलती है, किंतु संघका प्राण है आत्मगत ऐक्य।

आंशिक रूपसे, संकीर्ण क्षेत्रमें संघ-स्थापनकी निष्फल चेष्टा कई बार हुई है; या तो वह हुई बुद्धिगत चिंतनकी प्रेरणासे—जैसा कि पाश्चात्य देशोंमें हुआ; अथवा निर्वाणोन्मुख कर्मविरतिके स्वच्छंद अनुशीलनार्थ हुई–जैसा कि बौद्धोंने किया; या भागवत भावके आवेगसे हुई—जैसा

कि प्रथम ईसाई-संघने किया। परन्तु थोड़े समयमें ही समाजके जितने दोष, अपूर्णताएं और प्रवृत्तियां हैं वे संघमें घुस जाती हैं और उसे समाजमें परिणत कर देती हैं। चंचल बुद्धिका चिंतन नहीं टिकता, वह प्राचीन या नवीन प्राण-प्रवृत्तिके अदम्य स्रोतमें बह जाता है। भावके आवेगसे इस चेष्टाको सफल करना असंभव है, भाव अपनी तीव्रताके कारण क्लांत हो जाता है। निर्वाणको अकेले ही ढूंढ़ना अच्छा है, निर्वाण-प्रेमियोंका किसी संघकी सृष्टि करना एक विपरीत कांड है। संघ स्वभावतः कर्मकी, संबंधकी लीला-भूमि है।

जिस दिन समष्टिगत विराट् पुरुषकी इच्छाशक्तिकी प्रेरणासे, ज्ञान, कर्म और भावके सामञ्जस्य और एकीकरण-द्वारा आत्मगत ऐक्य दिखायी देगा उसी दिन जगन्नाथका रथ जगत्के रास्तेपर बाहर निकलकर दसों दिशाओंको आलोकित करेगा। उस दिन पृथ्वीके वक्षस्थलपर सत्ययुग उतर आवेगा, मर्त्य मनुष्यकी पृथ्वी होगी देवताका लीला-शिविर, भगवान्की मन्दिर-नगरी (temple city of god)—आनन्द-पुरी।

आर्य-आदर्श और गुणत्रय

"कारागृह और स्वाधीनता" शीर्षक लेखमें कई निरपराध कैदियोंके मानसिक भावका वर्णन कर मैंने यही प्रतिपादित करनेकी चेष्टा की है कि, आर्य-शिक्षाके प्रभावसे जेलमें भी भारतवासियोंकी आंतरिक स्वाधीनतारूप जो बहुमूल्य पैतृक संपत्ति है, वह नष्ट नहीं होती—बल्कि घोर अपराधियोंके बीचमें भी हजारों वर्षोंसे संचित वह आर्य-चरित्रगत देव-भाव भग्नावशिष्ट रूपमें वर्त्तमान रहता है। आर्यशिक्षाका मूल मंत्र है सात्विक भाव। जो सात्विक है वह शुद्ध है। साधारणतया मनुष्यमात्र ही अशुद्ध होता है। रजोगुणका प्राबल्य होनेसे, तमोगुणके घोर अंधकारके छा जानेसे यह अशुद्धि परिपुष्ट और वर्धित होती है। मनका मालिन्य दो प्रकारका होता है,—जड़ता अथवा अप्रवृत्तिजनित मालिन्य; यह तमोगुणसे उत्पन्न होता है। दूसरा, उत्तेजना या कुप्रवृत्तिजनित मालिन्य; यह रजोगुणसे उत्पन्न होता है। तमोगुणके लक्षण हैं अज्ञान, मोह, बुद्धिकी स्थूलता, चिंतनकी असंलग्नता, आलस्य, अतिनिद्रा, कर्ममें आलस्य-जनित विरक्ति, निराशा, विषाद, भय, एक शब्दमें निश्चेष्ट-

ताके पोषक सभी भाव। जड़ता और अप्रवृत्ति अज्ञानके फल हैं, उत्तेजना तथा कुप्रवृत्ति भ्रांत ज्ञानसे उत्पन्न होते हैं। परंतु तमोमालिन्यको यदि हटाना हो तो वह रजोगुणके उद्रेकके द्वारा ही हो सकता है। रजोगुण ही प्रवृत्तिका कारण है और प्रवृत्ति ही निवृत्तिकी पहली सीढ़ी है। जो जड़ है वह निवृत्त नहीं है, कारण जड़भाव ज्ञानशून्य है और ज्ञान ही निवृत्तिका मार्ग है। कामनाशून्य होकर जो कर्ममें प्रवृत्त होता है, वही निवृत्त होता है—कर्मत्याग-का नाम निवृत्ति नहीं है। इसीलिये भारतकी घोर तामसिक अवस्थाको देखकर स्वामी विवेकानंद कहा करते थे कि, "रजोगुणकी आवश्यकता है, देशमें कर्मवीरोंकी आवश्यकता है, प्रवृत्तिका प्रचंड स्रोत बह जाय, उससे यदि पाप भी आ घुसे तो भी वह तामसिक निश्चेष्टताकी अपेक्षा हजारगुना अच्छा होगा।"

वास्तवमें हम लोग घोर तममें निमग्न हैं, फिर भी सत्त्वगुणकी दुहाई देते हुए महासात्विक सजकर हम अपनी बड़ाई करते फिरते हैं। बहुतोंका यही मत है कि सात्विक होनेके कारण ही हम राजसिक जातियोंद्वारा पराजित हुए हैं, सात्विक होनेके कारण ही हम इस प्रकारकी अवनति और अधःपतित दशाको प्राप्त हुए हैं। ये लोग इस तरहकी

युक्तियोंद्वारा ईसाईधर्मसे हिन्दूधर्मकी श्रेष्ठता प्रमाणित करनेकी चेष्टा करते हैं। ईसाई-जाति प्रत्यक्ष फलवादी है, इस जातिके लोग धर्मका ऐहिक फल दिखाकर धर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करनेकी चेष्टा करते हैं; इनका कहना है कि ईसाई-जाति ही जगत्में प्रबल है, अतएव ईसाईधर्म ही संसारका श्रेष्ठ धर्म है। इधर हममेंसे कितनोंका यह कहना है कि यह भ्रम है। इनके मतानुसार धर्मकी श्रेष्ठताका निर्णय, उसके ऐहिक फलको देखकर नहीं किया जा सकता, इसके लिये हमें धर्मके पारलौकिक फलको देखना होगा; हिंदूजाति अधिक धार्मिक है इसीलिये वह असुरप्रकृति बलवान् पाश्चात्य जातिके अधीन हुई है। परंतु इस युक्तिके अंदर एक ऐसा घोर भ्रम निहित है जो आर्यज्ञानके विरुद्ध है। सत्त्वगुण कभी अवनतिका कारण नहीं हो सकता; यहांतक कि सत्त्व-प्रधान जाति दासत्वकी श्रृंखलामें बंधकर नहीं रह सकती। सत्त्वगुणका मुख्य फल है ब्रह्मतेज, और क्षात्र तेज है ब्रह्मतेज-की भित्ति। आघात पानेपर शांत ब्रह्मतेजसे क्षात्र तेजका स्फुलिंग बाहर निकलता है, चारों दिशाएं धधक उठती हैं। जहां क्षात्र तेज नहीं, वहां ब्रह्मतेज नहीं टिक सकता। देशमें यदि एक भी सच्चा ब्राह्मण हो तो वह एक सौ क्षत्रियों-की सृष्टि कर सकता है। देशकी अवनतिका कारण सत्त्वगुण-

की अधिकता नहीं, बल्कि रजोगुणका अभाव है, तमोगुणका प्राधान्य है। रजोगुणके अभावके कारण हमारा अंतर्निहित सत्त्व म्लान होकर तमके अंदर विलीन हो गया। आलस्य, मोह, अज्ञान, अप्रवृत्ति, निराशा, विषाद, निश्चेष्टताके साथ-साथ देशकी दुर्दशा और अवनति भी बढ़ने लगी। यह मेघ पहले हलका और विरल था, फिर कालकी गतिसे क्रमशः इतना अधिक घना हो गया, अज्ञान और अंधकारमें डूबकर हम इतने निश्चेष्ट और महत्त्वाकांक्षासे रहित हो गये कि भगवानद्वारा प्रेरित महापुरुषोंके उदय होनेपर भी यह अंधकार पूर्ण रूपसे दूर नहीं हुआ। जब यह दशा हुई तब सूर्य भगवान्ने रजोगुणजनित प्रवृत्तिके द्वारा देशकी रक्षा करनेका संकल्प किया।

जाग्रत रजःशक्तिके प्रचण्ड रूपसे कार्यशीला होनेपर तम पलायनोद्यत हो जाता है सही, परन्तु दूसरी ओरसे स्वेच्छाचार, कुप्रवृत्ति और उद्दाम उच्छृंखलता प्रभृति आसुरी भावोंके घुस आनेकी आशङ्का रहती है। रजःशक्ति यदि अपनी ही प्रेरणासे, उन्मत्तताकी विशाल प्रवृत्तिके पोषणको ही लक्ष्य बनाकर कार्य करे तो उपर्युक्त आशङ्काके लिये यथेष्ट कारण भी पैदा हो जाता है। उच्छृंखल भावसे स्व-पथगामी होनेपर रजोगुण अधिक कालतक नहीं टिक

सकता, उसमें क्लांति आ जाती है, तम आ जाता है, प्रचण्ड तूफानके बाद आकाश निर्मल और परिष्कृत न हो, मेघाच्छन्न और वायुस्पन्दनरहित हो जाता है। राष्ट्र-विप्लवके बाद फ्रांसकी यही दशा हुई। उस राष्ट्रविप्लवमें रजोगुणका भीषण प्रादुर्भाव हुआ था, किन्तु विप्लवके अन्तमें तामसिकताका अल्पाधिक पुनरुत्थान हुआ, पुनः राष्ट्रविप्लव, पुनः क्लांति, शक्तिहीनता, नैतिक अवनति—यही गत सौ वर्षोंका फ्रांसका इतिहास है। जितनी बार साम्य-मैत्री-स्वाधीनतारूपी आदर्शजनित सात्विक प्रेरणा फ्रांसके प्राणोंमें जागरित हुई, उतनी ही बार क्रमशः रजोगुण प्रबल होकर, सत्त्वसेवा-विमुख आसुरी भावमें परिणत होकर स्वप्रवृत्तिको पूर्ण करनेके लिये सचेष्ट हुआ। फलतः तमोगुणके पुनः आविर्भावके कारण फ्रांस अपनी पूर्वसंचित महाशक्तिको खोकर म्रियमाण विषम अवस्थामें, त्रिशंकुकी नाईं न तो स्वर्गमें और न मर्त्यमें ही, पड़ा हुआ है। इस प्रकारके परिणामसे बचनेका एकमात्र उपाय है प्रबल रजःशक्तिको सत्त्वकी सेवामें नियुक्त करना। यदि सात्विक भाव जाग्रत होकर रजःशक्तिका परिचालन करे तो तमोगुणके पुनः प्रादुर्भाव होनेका भय भी जाता रहता है और उद्दाम शक्ति भी शृङ्खलित और नियंत्रित होकर, उच्च

आदर्शके वशवर्ती होकर देश और जगत्‌का हित साधन करती है। सत्त्वकी वृद्धिका साधन है धर्मभाव—स्वार्थको डुबाकर परमार्थ-साधनमें समस्त शक्तिको अर्पण कर देना—भगवान्‌को आत्मसमर्पण करके समस्त जीवनको एक महान् और पवित्र यज्ञमें परिणत कर देना। गीतामें कहा गया है कि सत्त्व और रज दोनों मिलकर ही तमका नाश करते हैं; अकेला सत्त्व कभी तमको पराजित नहीं कर सकता। इसीलिये भगवान्‌ने सम्प्रति धर्मका पुनरुत्थान करने तथा हमारे अन्तर्निहित सत्त्वको जगानेके बाद रजःशक्तिको समस्त देशमें फैला दिया है। राममोहन राय प्रभृति धर्मोपदेशक महात्माओंने सत्त्वको पुनरुद्दीपित कर नवयुगका प्रवर्त्तन किया है। उन्नीसवीं शताब्दिमें धर्मजगत्‌में जितनी जागृति हुई है उतनी राजनीति और समाजमें नहीं हुई है। कारण क्षेत्र प्रस्तुत नहीं था, अतएव प्रचुर परिमाणमें बीज बोनेपर भी अंकुर दिखायी नहीं दिया। इसमें भी भारतवर्षपर भगवान्‌की दया और प्रसन्नता ही दिखायी देती है। कारण राजसिक भावसे उत्पन्न जो जागरण होता है वह कभी स्थायी या पूर्ण कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इससे पहले जातिके अन्तरमें थोड़ा-बहुत ब्रह्मतेजका उद्दीपन होना आवश्यक है। इसीलिये इतने दिनोंतक रजः-

शक्तिकी धारा रुकी हुई थी। १९०५ ई० में रजःशक्तिका जो विकास हुआ है वह सात्विक भावसे पूर्ण है। इसीलिये इसमें जो उद्दाम भाव दिखायी दिया है उससे भी आशङ्का-का कोई विशेष कारण नहीं, क्योंकि यह रजःसत्त्वका खेल है; इस खेलमें जो कुछ उद्दाम या उच्छृंखल भाव है, वह शीघ्र ही नियमित और शृङ्खलित हो जायगा। किसी बाह्य शक्तिके द्वारा नहीं, बल्कि भीतर जो ब्रह्मतेज, जो सात्विक भाव जागरित हुआ है उसीके द्वारा यह वशीभूत और नियमित होगा। धर्मभावका प्रचार कर हम उस ब्रह्मतेज और सात्विक भावका पोषणमात्र कर सकते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि परार्थमें समस्त शक्तिको लगा देना सत्त्वोद्रेकका एक उपाय है। और हमारे राज-नीतिक जागरणमें इस भावका यथेष्ट प्रमाण पाया जाता है। परन्तु इस भावकी रक्षा करना कठिन है। यह बात व्यक्ति-के लिये जितनी कठिन है, जातिके लिये उसकी अपेक्षा और भी अधिक कठिन है। परार्थके अन्दर स्वार्थ अलक्षित रूपसे घुस जाता है, और यदि हमारी बुद्धि शुद्ध न हो तो हम ऐसे भ्रममें पड़ सकते हैं कि हम परार्थकी दुहाई देकर और स्वार्थको आश्रय बनाकर, परहित, देशहित और मनुष्यजातिके हितको डुबा दें और फिर भी अपने भ्रमको

समझ न सकें। भगवत्सेवा सत्त्वोद्रेकका दूसरा उपाय है। परन्तु इस मार्गमें भी परिणाम विपरीत हो सकता है। भगवत्सान्निध्यरूपी आनन्दको पाकर हममें सात्विक निश्चेष्टता-का प्रादुर्भाव हो सकता है, उस आनंदका स्वाद लेते-लेते हम दु:खकातर देशके प्रति तथा मानवजातिकी सेवाके प्रति उदा-सीन हो सकते हैं। यही है सात्विक भावका बंधन। जिस प्रकार राजसिक अहंकार होता है उसी प्रकार सात्विक अहंकार भी होता है। जैसे पाप मनुष्यको बंधनमें डालता है वैसे ही पुण्य भी उसे बंधनमें डालता है। सभी वासनाओंसे शून्य होकर अहंकारको त्याग कर भगवान्‌को आत्मसमर्पण किये बिना पूर्ण स्वाधीनता नहीं मिलती। इन दोनों अनिष्टोंका त्याग करनेके लिये सबसे पहले जिस चीजकी आवश्यकता है, वह है विशुद्ध बुद्धि। देहात्मिका बुद्धिका वर्जन कर मानसिक स्वाधीनताका अर्जन करना ही बुद्धि-शोधनकी पूर्ववर्ती अवस्था है। मन जब स्वाधीन हो जाता है तब वह जीवके अधीन हो जाता है और उसके बाद मनको जीतकर और बुद्धिके आश्रयमें जाकर मनुष्य स्वार्थके पंजेसे बहुत कुछ छुटकारा पा जाता है। यह सब हो जानेपर भी स्वार्थ हमें सम्पूर्ण रूपसे नहीं छोड़ता। अन्तिम स्वार्थ है मुमुक्षुत्व, परदु:खको भूलकर अपने ही आनन्दमें विभोर

रहनेकी इच्छा। इसका भी त्याग करना होता है। समस्त भूतोंमें नारायणकी उपलब्धि कर, उन्हीं सर्वभूतस्थ नारायणकी सेवा ही इसकी दवा है। यही सत्त्वगुणकी पराकाष्ठा है। इससे भी उच्चतर अवस्था होती है और वह है सत्त्वगुणका भी अतिक्रमण कर, गुणातीत होकर सम्पूर्ण भावसे भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करना। गुणातीत अवस्थाका गीतामें इस प्रकार वर्णन है :—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

"जब जीव साक्षी होकर गुणत्रयको, अर्थात् भगवान्‌की त्रैगुण्यमयी शक्तिको ही एकमात्र कर्त्ताके रूपमें देखता है तथा इस गुणत्रयके भी ऊपर शक्तिके प्रेरक ईश्वरको जान जाता है तब वह भागवत साधर्म्य लाभ करता है। तब देहस्थ जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहोंसे संभूत गुणत्रयका अतिक्रमण कर जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखसे विमुक्त होकर अमरत्वका भोग करता है। सत्त्वजनित ज्ञान, रजोजनित प्रवृत्ति या तमोजनित निद्रा, निश्चेष्टता, भ्रम-रूपी मोहके होनेपर वह क्षुब्ध नहीं होता, गुणत्रयके आगमन और निर्गमनमें समान भाव रखकर उदासीनकी भांति वह स्थिर रहता है, गुणग्राम उसे विचलित नहीं कर पाते, इन सबको गुणोंकी स्वधर्मजात वृत्ति जानकर, वह दृढ़ रहता है। जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं, प्रिय और अप्रिय समान हैं, निंदा और स्तुति समान हैं, सोना और मिट्टी दोनों ही पत्थरके समान हैं, जो धीर-स्थिर, अपने ही अंदर अटल है, जिसके लिये मान और अपमान दोनों एक ही बात हैं, जिसे मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनों ही समान भावसे प्रिय हैं, जो स्वयं प्रेरित होकर किसी कार्यका आरंभ नहीं करता, समस्त कर्मोंको

भगवान्‌के अर्पण कर उन्हींकी प्रेरणासे करता है, उसीको गुणातीत कहते हैं। जो निर्दोष भक्तियोगद्वारा मेरी सेवा करता है वही इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर ब्रह्मप्राप्तिके उपयुक्त होता है।"

इस गुणातीत अवस्थाको प्राप्त करना सबके लिये संभव न होनेपर भी इसकी पूर्ववर्त्ती अवस्थाको प्राप्त कर लेना सत्त्वगुणप्रधान पुरुषके लिये असंभव नहीं है। सात्त्विक अहंकारका त्याग कर जगत्‌के सभी कार्योंमें भगवान्‌की त्रैगुण्यमयी शक्तिकी लीलाको देखना इसका सबसे पहला उपक्रम है। इस बातको समझकर सात्विक कर्त्ता कर्तृत्वाभिमानका त्याग कर, भगवान्‌को संपूर्ण आत्मसमर्पण कर कर्म करता है।

गुणत्रय और गुणातीत्यके संबंधमें मैंने जो कुछ कहा है, वह गीताकी मूल बात है। परंतु यह शिक्षा साधारणतया अंगीकृत नहीं हुई है, अभीतक जिसको हम आर्यशिक्षाके नामसे संबोधित करते आये हैं, वह प्रायः सात्विक गुणका अनुशीलन है। रजोगुणका आदर तो इस देशमें क्षत्रियजातिके लोप होनेके साथ-ही-साथ, लुप्त हो गया, यद्यपि जातीय जीवनमें रजःशक्तिका भी अत्यंत प्रयोजन है। इसीलिये आजकल गीताकी ओर लोगोंका मन आकृष्ट

हुआ है। गीताकी शिक्षाने पुरातन आर्यशिक्षाको आधार बनाकर भी उसका अतिक्रमण किया है। गीतोक्त धर्म रजोगुणसे भय नहीं खाता, उसमें रज:शक्तिको सत्त्वकी सेवामें नियुक्त करनेका पथ दिया हुआ है, प्रवृत्तिमार्गमें मुक्तिका उपाय प्रदर्शित किया गया है। इस धर्मका अनुशीलन करनेके लिये जातिका मन किस प्रकार तैयार हो रहा है, इस बातको पहले-पहल मैंने जेलमें ही हृदयङ्गम किया था। अभीतक स्रोत निर्मल नहीं हुआ है, अभी भी वह कलुषित और मलिन है, किंतु इस स्रोतका अतिरिक्त वेग जब कुछ प्रशमित होगा तब उसके अन्दर जो विशुद्ध शक्ति छिपी हुई है, उसका निर्दोष कार्य आरम्भ होगा। जो लोग मेरे साथ कैद थे और एक ही अभियोगमें अभियुक्त थे, उनमेंसे बहुतसे लोग निर्दोष समझकर छोड़ दिये गये हैं, बाकी लोगोंको यह कहकर सजा दी गयी है कि वे षड़यंत्रमें लिप्त थे। मानवसमाजमें हत्यासे बढ़कर और कोई अपराध नहीं हो सकता। जातीय स्वार्थसे प्रेरित होकर जो हत्या करता है, उसका व्यक्तिगत चरित्र चाहे कलुषित न भी हो, किंतु इससे सामाजिक हिसाबसे, अपराधका गुरुत्व कम नहीं हो जाता। यह भी स्वीकार करना होगा कि अन्तरात्मापर हत्याकी छाया पड़नेसे मनपर मानो रक्तका दाग

बैठ जाता है, उसमें क्रूरताका संचार होता है। क्रूरता बर्बरोचित गुण है, मनुष्य उन्नतिके क्रमविकासमें जिन सब गुणोंसे धीरे-धीरे दूर हो रहा है, उन सबमें क्रूरता प्रधान है। इसका यदि पूर्ण रूपसे त्याग कर दिया जाय तो मानव-जातिकी उन्नतिके मार्गमेंसे एक विघ्नकारी कंटक समूल नष्ट हो जायगा। अभियुक्तोंका दोष मान लेनेपर यही समझना होगा कि यह रजःशक्तिकी क्षणिक उद्दाम उच्छृंखलतामात्र है। उनके अन्दर एक ऐसी सात्विक शक्ति निहित है कि इस क्षणिक उच्छृंखलताके द्वारा देशका स्थायी अमंगल होनेकी कोई भी आशंका नहीं है।

अन्तरकी जिस स्वाधीनताकी बात मैं ऊपर कह आया हूं वह स्वाधीनता मेरे साथियोंका स्वभावसिद्ध गुण है। जिन कई दिनोंतक हमलोग एक संग एक बड़ेसे दालानमें रखे गये थे, उन दिनोंमें मैंने उनके आचरण और मनोभावको विशेष मनोयोगपूर्वक लक्ष्य किया। केवल दो व्यक्तियोंको छोड़कर अन्य किसीके भी मुंह या जबानपर भयकी छायातक देखनेको नहीं मिली। प्रायः सभी तरुण और वयस्क थे, बहुतसे अल्पवयस्क बालक थे; जिस अपराधमें वे पकड़े गये थे वह प्रमाणित होनेपर उसका दण्ड जैसा भीषण होगा इसकी कल्पनामात्रसे दृढ़मति पुरुष भी

विचलित हो सकता है। इसके अतिरिक्त, इस मुकदमेंसे रिहाई पा जानेकी आशा भी ये लोग नहीं रखते थे। विशेषतः, मजिस्ट्रेटकी अदालतमें गवाहों और लिखित गवाहियोंका जैसा भीषण आयोजन होने लगा उसे देखकर कानूनसे अनभिज्ञ व्यक्तिके मनमें भी सहज ही यह धारणा होने लगी कि निर्दोषीके लिये भी, इस फंदेसे निकलनेका उपाय नहीं है। फिर भी उनके मुंहपर भय या विषादके बदले केवल प्रफुल्लता, सरल हास्य, अपनी विपत्तिको भूलकर धर्म और देशकी बात ही थी। हमलोगोंके वार्डमें, हरेक बन्दीके पास दो-चार किताबें होनेके कारण एक छोटीसी लाइब्रेरी बन गयी थी। इस लाइब्रेरीकी अधिकांश किताबें धर्मसंबंधी थीं—गीता, उपनिषद्, विवेकानन्दपुस्तकावली, रामकृष्णकथामृत और जीवनचरित, पुराण, स्तोत्रमाला, ब्रह्मसंगीत इत्यादि। अन्य पुस्तकोंमें बंकिमग्रंथावली, स्वदेशी गानसंबंधी बहुतसी छोटी-छोटी पुस्तिकाएं, युरोपीय दर्शन, इतिहास और साहित्यकी थोड़ी-बहुत पुस्तकें थीं। प्रातःकाल कोई-कोई साधना करने बैठता, कोई-कोई पुस्तकें पढ़ता और कोई-कोई धीरे-धीरे बातें करता। प्रातःकालकी इस शान्तिमय नीरवताके अंदर बीच-बीचमें हंसीकी लहरें भी उठ जाती थीं। जिस दिन कचहरीका दिन नहीं होता उस दिन कुछ लोग

सोते, कुछ लोग खेलते—जिस दिन जो भी खेल हो जाय, किसी खास खेलके लिये किसीको कोई आग्रह नहीं था। किसी दिन एक वृत्तमें बैठकर कोई शांत खेल होता था तो किसी दिन दौड़-धूप या कूद-फांद होती थी; कुछ दिन फुटबाल चला, यह फुटबाल अवश्य ही किसी अपूर्व सामग्रीद्वारा बनाया गया था। कुछ दिन आंखमिचौनी चली। कभी-कभी अलग-अलग दल बनाकर एक ओर जुजुत्सुकी शिक्षा होती तो दूसरी ओर ऊंची कूद और लम्बी कूद तथा एक ओर ड्राफ्ट या चौपड़के खेल। दो-चार गंभीर प्रौढ़ व्यक्तियोंको छोड़कर प्राय: सब लोग बालकोंके अनुरोधसे इन खेलोंमें शरीक होते थे। मैंने देखा कि इनमें जो बड़े-बूढ़े थे उनका स्वभाव भी बालकों-जैसा ही था। शामको गानेकी मजलिस जुटती। गानविद्यामें निपुण उल्लास, शचींद्र और हेमदासके चारों ओर बैठकर हम सभी लोग गाना सुनते। स्वदेशी या धर्मके गानोंके अतिरिक्त और किसी तरहका गाना नहीं होता था। किसी-किसी दिन केवल आमोद करनेकी इच्छासे उल्लासकर हंसीके गाने, अभिनय, दूरागतशब्दानुकरण (Ventriloquism), नक़ल उतारने या गंजेड़ियोंकी गप आदिके द्वारा शामका समय बिताता।....मुकदमेमें कोई भी जी नहीं लगाता था, सभी धर्म या आनन्दमें दिन बिताते थे। इस

प्रकारका निश्चित भाव कठिन दुष्क्रियाभ्यस्त हृदयके लिये असंभव है; इनके अन्दर काठिन्य, क्रूरता, दुष्क्रियासक्ति, कुटिलता लेशमात्र भी नहीं थी। क्या हंसी, क्या बातचीत, क्या खेल-कूद, इनका सब कुछ आनन्दमय, पापहीन और प्रेममय था।

इस मानसिक स्वाधीनताका फल शीघ्र ही विकसित होने लगा। इस प्रकारके क्षेत्रमें ही धर्म-बीज बोनेसे सर्वांग-सुंदर फल संभव होता है। ईसामसीहने कुछ बालकोंको दिखाते हुए अपने शिष्योंसे कहा था कि "जो लोग इन बालकोंकी तरह हैं, वे ही ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं।" ज्ञान और आनंद सत्त्वगुणके लक्षण हैं। जो दुःखको दुःख नहीं समझते, जो सभी अवस्थाओंमें आनंदित और प्रफुल्लित रहते हैं, वे ही योगके अधिकारी हैं। जेलमें राजसिक भावको प्रश्रय नहीं मिलता, और निर्जन कारागारमें प्रवृत्तिका परिपोषक कुछ भी नहीं होता। ऐसी अवस्थामें असुरका मन चिर-अभ्यस्त रजःशक्तिकी सामग्रीके अभावमें आहत व्याघ्रकी नाईं स्वयं अपना ही नाश करने लगता है। पाश्चात्य कविगण जिसको eating one's own heart (तीव्र संतापसे जीको जलाना) कहते हैं, ठीक वही अवस्था होती है। परंतु भारतवासीका मन इस प्रकारकी निर्जनतामें,

इस बाह्य कष्टकी अवस्थामें पुराने आकर्षणसे आकृष्ट होकर भगवान्‌की ओर दौड़ पड़ता है। हम लोगोंकी भी यही अवस्था हुई। न मालूम कहांसे एक स्रोत आकर सभीको बहा ले गया। जिसने कभी भगवान्‌का नाम नहीं लिया था वह भी साधना करना सीख गया और उस परम दयालुकी दयाका अनुभव कर आनंदमग्न हो गया। अनेक दिनोंके अभ्याससे योगियोंकी जो अवस्था होती है, वह इन बालकोंकी दो-चार महीनेकी साधनासे हो गयी। रामकृष्ण परमहंसने एक बार कहा था, "अभी तुम लोग क्या देखते हो— यह तो कुछ भी नहीं है, देशमें एक ऐसा स्रोत आ रहा है जिसके प्रभावसे अल्पवयस्क बालक भी तीन दिन साधना करके सिद्धि पायेंगे।" इन बालकोंको देखकर उनकी भविष्यवाणीकी सफलतामें जरा भी संदेह नहीं रह जाता। ये मानो उसी प्रत्याशित धर्मप्रवाहके मूर्त्तिमान पूर्व-परिचय हों। इस सात्विक भावकी तरंग कठघरेतक पहुंचकर, चार-पांचको छोड़ बाकी सबके हृदयको महान् आनंदसे परिप्लावित कर देती थी। इसके स्वादको जिसने एक बार चखा है वह इसको कभी भूल नहीं सकता तथा कभी किसी दूसरे आनंदको इस आनंदके समान नहीं स्वीकार कर सकता। यही सात्विक भाव देशकी उन्नतिकी आशा

है। भ्रातृभाव, आत्मज्ञान और भगवत्प्रेम जिस तरह सहज ही भारतवासीके मनपर अधिकार कर कार्यमें प्रकट होते हैं उस तरह सहज ही और किसी जातिमें उनका प्रकट होना संभव नहीं। इसके लिये चाहिये तमोवर्जन, रजोदमन और सत्त्वप्रकाश। भगवान्की गूढ अभिसंधिके फलस्वरूप भारतवर्षमें यही अवस्था प्रस्तुत हो रही है।

हिरोवूमि इतो

मानवजातिके अन्दर दो प्रकारके जीव जन्म ग्रहण करते हैं। जो लोग धीरे-धीरे क्रमविकासके स्रोतमें अग्रसर होकर अन्तर्निहित देवत्वको प्रकट करते हैं, वे साधारण मनुष्य हैं। जो लोग उस क्रमविकासके सहायतार्थ विभूति-रूपसे जन्म ग्रहण करते हैं—वे दूसरे प्रकारके हैं। इस दूसरे प्रकारके जीव जिस जाति या युगमें अवतरण करते हैं, वे उस जातिके चरित्र और आचार तथा उस युगके धर्मको ग्रहण करते हुए, ईश्वरीय शक्ति और स्वभावके बलसे ऐसे कर्म करते हैं जो साधारण मनुष्यके लिये असाध्य होते हैं, और इस प्रकार जगत्की गति किंचित् परिवर्तित करके, इतिहासमें अमर नाम रखकर, अपने लोकमें चले जाते हैं। उनके कर्म और चरित्र मनुष्यकी प्रशंसा या निन्दाके परे होते हैं। हम प्रशंसा करें या निन्दा, वे भगवान्‌के सौंपे हुए कार्यको कर गये हैं और उसी कार्यके द्वारा मानवजाति-का भविष्य नियन्त्रित होकर अपने निर्दिष्ट पथपर द्रुतगतिसे प्रवाहित होगा। सीजर, नेपोलियन, अकबर, शिवाजी इसी प्रकारकी विभूति थे। जापानके महापुरुष हिरोवूमि इतो भी

इसी श्रेणीके अन्तर्गत हैं और ऊपर मैंने जिन कई नामोंका उल्लेख किया है उनमेंसे एक भी व्यक्ति गुणमें, प्रतिभामें या कर्मके महत्त्व और भावी फलके हिसाबसे इतोकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ नहीं था। इतोका इतिहासमें और जापानके अभ्युदयमें प्रधान स्थान है इस बातको सभी जानते हैं, किंतु सब लोग इस बातको नहीं भी जानते होंगे कि इतोने ही जापानके इस अभ्युदयके क्रम, उपाय और उद्देश्यकी उद्भावना कर, अन्ततक अकेले ही, इस महान् परिवर्तनको सिद्ध किया है, जापानके और सभी महापुरुष उनके हाथके यन्त्र मात्र थे। इतोने ही जापानकी एकता और स्वाधीनता, उसके विद्याबल, सैन्यबल, नौसेनाबल, अर्थबल, वाणिज्य और राजनीति आदिकी कल्पना कर, उन्हें कार्यमें परिणत किया था। वे ही भावी जापानके साम्राज्यको तैयार कर रहे थे। परन्तु उन्होंने जो कुछ किया वह प्रायः परदेके अन्दर रहकर किया। जर्मनीके कैसर विलियम या इङ्गलैंडके लायड जार्ज जो कुछ करते, जो कुछ सोचते हैं उसे सारा संसार तुरत ही जान जाता है। परन्तु इतो जो कुछ सोचते थे, जो कुछ करते थे, उसे कोई नहीं जानता था——जब उनकी निभृत कल्पना और चेष्टा फलीभूत हुई तब जगत् विस्मित होकर समझ सका कि

इतने दिनोंतक यही प्रस्तुत हो रहा था। अथच कितना प्रकांड कार्य, कितनी अद्भुत प्रतिभा उस कार्यमें प्रकट हो रही है ! यदि इतो अपनी कल्पनाओंको अपने ही हाथोंसे कार्यमें परिणत करनेके अभ्यासी होते तो सारा संसार बात-बातमें उन्हें उन्मत्त, असाध्यसाधनप्रयासी और व्यर्थ-स्वप्नविलासी कहकर उनकी हंसी उड़ाता। इस बातपर भला किसको विश्वास होता कि पचास वर्षोंके अन्दर जापान अपनी दुर्लभ स्वाधीनताकी रक्षा करता हुआ समस्त पाश्चात्य सभ्यताको आयत्त कर लेगा, इङ्गलैंड, जर्मनी और फ्रांस आदि देशोंके समकक्ष एक प्रबल पराक्रमशाली जाति हो जायगा, चीनको पराजित करेगा, रूसको हरा देगा, दूर-दूर देश-विदेशोंमें जापानी वाणिज्य, जापानी चित्रकला, जापानी बुद्धिकी प्रशंसा और जापानी साहसके भयका विस्तार करेगा, कोरियापर अधिकार करेगा, फारमोजाको दखल करेगा, वृहत् साम्राज्यकी भित्ति स्थापित करेगा, एकता, स्वाधीनता, साम्य और जातीय शिक्षाकी चरम उन्नति साधित करेगा ? नेपोलियन कहा करते थे कि "मैंने 'असाध्य' शब्दको अपने कोषसे निकाल दिया है।" इतोने यह बात कही तो नहीं पर उसे हो कार्यमें परिणत किया। नेपोलियनके कार्यकी अपेक्षा इतोका कार्य बड़ा

है। ऐसे महापुरुष किसी हत्याकारीकी गोलीसे मारे गये इसके लिये दुःख करनेका कोई कारण नहीं। जिसने जापानके लिये प्राणोंका उत्सर्ग किया है, जापान ही जिसके चिन्तनका विषय था, जापान ही जिसका उपास्य देवता था, उसने जापानके लिये प्राणत्याग किया है यह बड़े ही सुख, सौभाग्य और गौरवकी बात है। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।"—हिरोबूमि इतोके भाग्य-में ये दो परम फल एक ही जीवनवृक्षमें प्राप्त हुए।

दुर्गा-स्तोत्र

मातः दुर्गे! सिंहवाहिनि सर्वशक्तिदायिनि मातः शिवप्रिये! तेरी शक्तिके अंशसे उद्भूत हम भारतके युवकगण तेरे मन्दिरमें बैठे हुए तुझसे प्रार्थना करते हैं—सुन हे मातः, तू भारतमें आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! युग-युगमें मानव-शरीर धारण कर जन्म-जन्ममें तेरा ही कार्य कर, हम तेरे आनन्दधामको लौट जाते हैं। इस बार भी जन्म लेकर हम तेरे ही कार्यके व्रती हैं—सुन हे मातः, तू भारतमें आविर्भूत हो, हमारी सहायक हो।

मातः दुर्गे! सिंहवाहिनि, त्रिशूलधारिणि, वर्म-आवृत-सुन्दर-शरीर-धारिणि जयदायिनि मातः! तेरी प्रतीक्षा-में भारत बैठा है, तेरी उसी मङ्गलमयी मूर्त्तिको देखनेके लिये उत्सुक है। सुन हे मातः, तू भारतमें आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! बलदायिनि, प्रेमदायिनि, ज्ञानदायिनि, शक्तिस्वरूपिणि भीमे, सौम्य-रौद्र-रूपिणि! जीवन-संग्राममें, भारत-संग्राममें तेरे द्वारा प्रेरित योद्धा हम सब हैं, दे, मातः,

प्राण और मनमें असुरकी शक्ति, असुरका उद्यम, दे, मातः, हृदयमें, बुद्धिमें देवताका चरित्र, देवताका ज्ञान ।

मातः दुर्गे ! जगत्श्रेष्ठ भारतजाति घोर तिमिरसे आच्छन्न थी । तू, हे मातः, गगनप्रांतमें धीरे-धीरे उदय हो रही है, तेरे स्वर्गीय शरीरकी तिमिरविनाशी आभासे ऊषाका प्रकाश हुआ है । आलोक विस्तार कर, हे मातः, तिमिर विनाश कर ।

मातः दुर्गे ! श्यामला, सर्वसौंदर्य-अलंकृता, ज्ञान-प्रेम-शक्तिकी आधार भारतभूमि तेरी विभूति है, इतने दिनोंतक शक्तिसंहरणके लिये वह अपने-आपको छिपा रही थी । आगत युगमें, आगत कालमें, भविष्यका भार कंधेपर लादकर भारतजननी उठ रही है, आ, हे मातः, प्रकाशमान हो ।

मातः दुर्गे ! हम तेरे संतान, तेरे प्रसादसे, तेरे प्रभाव-से महत् कार्यके, महत् भावके उपयुक्त हो जायं । हे मातः, विनाश कर क्षुद्रता, विनाश कर स्वार्थ, विनाश कर भय ।

मातः दुर्गे ! कालीरूपिणि, नृमुंडमालिनि, दिगम्बरि, कृपाणपाणि देवि ! असुरविनाशिनि ! अपने क्रूर निनादसे अन्तःस्थ रिपुओंका विनाश कर । इनमेंसे एक भी हमारे अन्दर जीवित न रहे, जिससे कि हम विमल, निर्मल हो जायं, यही प्रार्थना है, हे मातः, प्रकाशमान हो ।

मातः दुर्गे ! स्वार्थसे, भयसे, क्षुद्राशयतासे भारत म्रियमाण हो रहा है। हे मातः ! हमें महत बना, महत्-प्रयासी बना, उदारचेता बना, सत्यसंकल्पी बना। ऐसा कर जिससे कि हम अब और अल्पाशी, निश्चेष्ट, अलस और भयभीत न हों।

मातः दुर्गे ! योगशक्तिका विस्तार कर। हम तेरे प्रिय आर्यसंतान हैं, लुप्त शिक्षा, चरित्र, मेधाशक्ति, श्रद्धाभक्ति, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्यज्ञानका हमारे अन्दर विकास कर जगत्में उन्हें वितरित कर। हे दुर्गतिनाशिनि जगदम्बे ! मनुष्यकी सहायताके लिये प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे ! अन्तःस्थ रिपुओंका संहार करके बाहरके बाधा-विघ्नोंको निर्मूल कर। बलशाली, पराक्रमी, उन्नतचेता जाति भारतके पवित्र काननोंमें, उर्वर क्षेत्रोंमें, गगनसहचर पर्वतोंके तले, पूतसलिला नदियोंके तीरपर एकतासे, प्रेमसे, सत्यशक्तिसे, शिल्पसे, साहित्यसे, विक्रमसे, ज्ञानसे श्रेष्ठ होकर निवास करे, मातृ-चरणोंमें यही प्रार्थना है, हे मातः, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे ! हमारे शरीरमें योगबलद्वारा प्रवेश कर। हम होंगे तेरे यन्त्र, तेरी अशुभ-विनाशी तलवारराशि, तेरे अज्ञानविनाशी प्रदीप। हे मातः, भारतके युवकोंकी

इस आशाको पूर्ण कर। यन्त्री बनकर यन्त्र चला, अशुभ-हंत्री होकर तलवार घुमा, ज्ञानदीप्तिप्रकाशिनी होकर हाथमें प्रदीप ले, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! अबकी बार तुझे पानेपर अब और तेरा विसर्जन नहीं करेंगे। श्रद्धा, भक्ति और प्रेमकी डोरसे तुझे बांध लेंगे। आ मातः, हमारे मन, प्राण और शरीरमें प्रकाशमान हो।

वीरमार्गप्रदर्शिनि! आ, अब हम तेरा विसर्जन नहीं करेंगे। हमारा सारा जीवन ही अनवच्छिन्न दुर्गापूजा हो, हमारे समस्त कार्य अविरत, पवित्र, प्रेममय, शक्तिमय, मातृसेवाव्रतसे युक्त हों। यही प्रार्थना है, हे मातः, तू भारतमें आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।

स्वप्न

एक दरिद्र आदमी एक अंधेरी कोठरीमें बैठा हुआ अपनी शोचनीय अवस्था और भगवान्‌के राज्यमें अन्याय और अविचारकी बातें सोच रहा था। दरिद्र अभिमानसे वशीभूत होकर कहने लगा, "लोग कर्मकी दुहाई देकर भगवान्‌के सुनामकी रक्षा करना चाहते हैं। यदि गत जन्मके पापसे मेरी यह दुर्दशा हुई होती, यदि मैं इतना ही पापी होता तो निश्चय ही इस जन्ममें भी मेरे मनमें पापचिंतनका स्रोत अभी भी बहता रहता, इतने घोर पातकी-का मन क्या एक दिनमें निर्मल हो सकता है? और उस पाड़ेके तीनकौड़ी शीलको तो देखो, उसकी धन-दौलत, सोना-चांदी, दास-दासियोंको देखो, यदि कर्मफल सत्य हो तो निश्चय ही वह पूर्वजन्ममें कोई जगद्विख्यात साधु-महात्मा था। परंतु कहां, इस जन्ममें तो उसका चिह्नतक भी नहीं दिखायी देता। ऐसा निष्ठुर पाजी बदमाश तो संसारभर-में भी कोई नहीं है। नहीं, कर्मवाद भगवान्‌की ठगविद्या है, मनको भुलानेवाली एक बात भर है। श्यामसुन्दर बड़े चतुर-चूड़ामणि हैं, मेरे पास आकर पकड़ाई नहीं देते, इसीसे

उनकी कुशल है, नहीं तो अच्छी तरह शिक्षा देकर उनकी सारी चालाकी निकाल देता ।"

इतना कहते ही दरिद्रने देखा कि हठात् उसका अंधकारपूर्ण घर अतिशय उज्वल आलोक-तरंगमें प्रवाहित हो गया, फिर तुरत हो वह आलोक-तरङ्ग अन्धकारमें विलीन हो गयी और उसने देखा कि उसके सामने एक सुन्दर कृष्णवर्ण बालक हाथमें दीपक लिये हुए खड़ा है—धीरे-धीरे मुसकरा रहा है, पर कुछ बोलता नहीं है! उसके सिरपर मोरमुकुट और पांवोंमें नूपुर देखकर दरिद्रने समझ लिया कि स्वयं श्यामसुन्दर ही उसे पकड़ाई देनेके लिये आये हैं । दरिद्र अप्रतिभ हो गया, एक बार उसने सोचा कि प्रणाम करूं, किन्तु बालकका हंसता हुआ मुखड़ा देखकर किसी तरह भी प्रणाम करनेको प्रवृत्ति नहीं हुई । अन्तमें उसके मुंहसे ये वाक्य निकल पड़े—"अरे कन्हैया, तू क्यों आ गया ?"

बालकने हंसकर कहा—"क्यों, तुमने मुझे बुलाया नहीं है ? अभी तो मुझे चाबुक लगानेकी प्रबल वासना तुम्हारे मनमें उठी थी ! अब तो मैं पकड़में आ गया, उठकर चाबुक लगाओ न ।"

दरिद्र और भी अप्रतिभ हुआ, भगवान्‌को चाबुक

लगानेकी इच्छाके लिये उसके हृदयमें अनुताप नहीं हुआ, किन्तु इतने सुन्दर बालकको स्नेह करनेके बदले उसके शरीरपर हाथ लगाना उसे ठीक सुरुचि-संगत नहीं मालूम हुआ। बालकने फिर कहा—"देखो हरिमोहन, जो लोग मुझसे भय न कर मुझे सखाकी भांति देखते हैं, स्नेह-भावसे गाली देते हैं, मेरे साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं, वे मुझे बहुत ही प्रिय हैं। मैंने क्रीड़ाके लिये ही जगत्की सृष्टि की है, मैं सर्वदा इस क्रीड़ाका उपयुक्त साथी खोजता रहता हूं। परन्तु भाई, ऐसे साथी मिलते नहीं। सभी मेरे ऊपर क्रोध करते हैं, दावा करते हैं, दान चाहते हैं, मान चाहते हैं, मुक्ति चाहते हैं, भक्ति चाहते हैं, न जाने क्या-क्या चाहते रहते हैं, किन्तु कहां, मुझे तो कोई नहीं चाहता! जो कुछ ये चाहते हैं वह मैं इन्हें दे देता हूं। क्या करूं, इन्हें सन्तुष्ट करना ही पड़ता है, नहीं तो ये मेरी जानके गाहक बन जायं। तुम भी देखता हूं कुछ चाहते हो। नाराज होनेपर चाबुक लगानेके लिये एक आदमी चाहते हो, इसी साधको मिटानेके लिये तुमने मुझे बुलाया है। चाबुककी मार खानेके लिये मैं भी आ गया हूं—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। फिर भी प्रहार करनेके पहले यदि तुम मेरे मुंहसे कुछ सुनना

चाहो तो मैं तुम्हें अपनी प्रणाली समझा दूंगा। क्यों! राजी हो ?"

हरिमोहनने कहा--"तू समझा सकेगा तो ? देखता हूं, तू बहुत बकबक करने जानता है, किन्तु तेरे जैसा नन्हासा बालक मुझे कुछ सिखा सकेगा यह मैं कैसे विश्वास करूं ?"

बालकने फिर हंसकर कहा—"अच्छा, आओ, देखो मैं सिखा सकता हूं या नहीं।"

इतना कहकर श्रीकृष्णने हरिमोहनके सिरपर हाथ रखा। दरिद्रके समस्त शरीरमें विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगी, मूलाधारमें सुप्त कुंडलिनीशक्ति अग्निमयी भुजंगिनीके रूपमें गर्जन करती हुई ब्रह्मरंध्रमें दौड़ आयी, उसका मस्तिष्क प्राणशक्तिकी तरंगोंसे भर गया। उसके बाद उसे ऐसा मालूम होने लगा कि उसके चारों ओर जो उसके घरकी दीवारें हैं वे मानो दूर भागी जा रही हैं, नाम-रूपमय जगत् मानो उसे छोड़कर अनंतमें छिपा जा रहा है। हरिमोहन बाह्य-ज्ञानशून्य हो गया। जब उसे फिरसे चेतना हुई तो उसने देखा कि वह किसी अपरिचित मकानमें बालकके संग खड़ा है और उसके सामने गालपर हाथ रखे गद्दीपर बैठे हुए एक वयोवृद्ध पुरुष प्रगाढ़ चिन्तामें निमग्न हैं। उस घोर चिन्ता-

से विकृत, हृदयविदारक निराशासे विमर्ष उनके मुख-मण्डलको देखकर हरिमोहनको यह विश्वास करनेकी इच्छा नहीं हुई कि यही वृद्ध ग्रामके हर्त्ता-कर्त्ता तीनकौड़ी शील हैं। अन्तमें अत्यन्त भयभीत होकर उसने बालकसे कहा—"अरे, यह तूने क्या किया कन्हैया, चोरकी भांति घोर रात्रिमें दूसरेके मकानमें घुस आया ? पुलिस आकर हम लोगोंको पकड़ लेगी और मारते-मारते हम दोनोंके प्राण निकाल लेगी ! तीनकौड़ी शीलके प्रतापको क्या तू नहीं जानता ?"

बालकने हंसकर कहा—"अच्छी तरह जानता हूं। परन्तु चोरी मेरा पुराना धन्धा है, पुलिसके साथ मेरी खूब घनिष्ठता है, तुम डरो मत। अब मैं तुमको सूक्ष्म दृष्टि देता हूं, वृद्धके मनके भीतर देखो। तीनकौड़ीके प्रतापको तो तुम जानते ही हो, अब मेरे प्रतापको भी देखो।"

अब हरिमोहन वृद्ध तीनकौड़ीके मनको देखनेमें समर्थ हुआ। उसने देखा, मानो वृद्धका मन शत्रुओंके आक्रमणसे विध्वस्त कोई धनाढ्य नगरी है, उसकी तीक्ष्ण और ओजस्विनी बुद्धिमें कितनी ही भीषण मूर्त्तियां, पिशाच और राक्षस आदि प्रवेश कर शान्ति नष्ट कर रहे हैं, ध्यान भंग कर रहे हैं, सुख लूट रहे हैं। वृद्धने

अपने प्यारे कनिष्ठ पुत्रके साथ कलह किया है, उसे घरसे निकाल दिया है; अब वे बुढ़ापेके प्यारे पुत्रको खोकर शोकसे म्रियमाण हो रहे हैं, फिर भी क्रोध, गर्व और हठ उनके हृदयद्वारमें सांकल लगाकर पहरा दे रहे हैं। क्षमाको प्रवेश करनेसे मना कर रहे हैं। उनकी कन्याके नाम दुश्चरित्रा होनेका कलंक लगा है, अतः वृद्ध अपनी प्रिय कन्याको घरसे निकालकर अब उसके लिये रो रहे हैं; वृद्ध यह जानते हैं कि वह निर्दोष है, किन्तु समाजके भय, लोकलज्जा, अहंकार और स्वार्थने स्नेहको दबा रखा है, उसे वे उभड़नेका अवसर ही नहीं देते। हजारों पाप-स्मृतियोंसे डरकर वृद्ध बार-बार चमक उठते हैं, तथापि पाप-प्रवृत्तियोंको सुधारनेका साहस या बल उनमें नहीं है। बीच-बीचमें मृत्यु और परलोकको चिन्ता वृद्धको अत्यन्त दारुण विभीषिका दिखा देती हैं। हरि-मोहनने देखा कि मरनेकी चिन्ताके परदेके पीछेसे विकट यमदूत वृद्धकी ओर झांक रहे हैं और दरवाजेको खटखटा रहे हैं। जब-जब दरवाजा खटखटानेका शब्द होता है तब-तब वृद्धका अन्तरात्मा भयसे व्याकुल होकर चीत्कार कर उठता है। इस भयंकर दृश्यको देखकर हरिमोहन भयभीत हो गया और उसने बालकको ओर देखकर कहा—

"अरे कन्हैया ! यह क्या ? मैं तो सोचता था कि वृद्ध परम सुखी हैं।"

बालकने कहा—"यही मेरा प्रताप है। कहो तो जरा, किसका प्रताप अधिक है, उस महल्लेके तीनकौड़ी शीलका या वैकुंठवासी श्रीकृष्णका ? देखो हरिमोहन ! हमारे यहां भी पुलिस है, पहरा है, गवर्नमेंट है, कानून है, विचार है, मैं भी राजा बनकर खेल कर सकता हूं। यह खेल क्या तुम्हें पसंद है ?"

हरिमोहनने कहा–"ना रे बाबा, यह तो बड़ा बुरा खेल है। तुझे क्या यह खेल अच्छा लगता है ?"

बालकने हंसकर उत्तर दिया—"मैं सभी खेल पसंद करता हूं, चाबुक लगाना भी पसन्द करता हूं और चाबुक खाना भी।" इसके बाद उसने कहा—"देखो हरिमोहन, तुम लोग केवल बाहरको ही देखते हो, भीतर-को देखनेकी सूक्ष्म दृष्टिका तुमने अभीतक विकास नहीं किया है। इसीलिये तुम कहते हो कि तुम दुःखी हो और तीनकौड़ी सुखी है। इस आदमीको किसी भी पार्थिव वस्तुका अभाव नहीं है—फिर भी यह लखपती तुम्हारी अपेक्षा कितनी अधिक दुःख-यंत्रणा भोग रहा है। ऐसा क्यों, तुम कह सकते हो ? मनकी अवस्थामें ही सुख है और मनकी

अवस्थामें ही दुःख। सुख और दुःख मनके विकार मात्र हैं। जिसके पास कुछ नहीं है, विपदा ही जिसकी संपदा है, वह अगर चाहे तो उस विपत्तिके अंदर भी परम सुखी हो सकता है। और देखो, जिस तरह तुम नीरस पुण्यमें दिन बिताते हुए सुख नहीं पा रहे हो, केवल दुःखका ही चिन्तन करते हो, उसी तरह ये भी नीरस पापमें दिन बिताते हुए केवल दुःखका ही चिंतन करते हैं। इसीलिये पुण्यसे केवल क्षणिक सुख और पापसे केवल क्षणिक दुःख या पुण्यसे केवल क्षणिक दुःख और पापसे केवल क्षणिक सुख होता है। इस द्वंद्वमें आनंद नहीं है। आनंदके आगारकी छवि तो मेरे पास है। मेरे पास जो आता है, जो मेरे प्रेमपाशमें बंधता है, मुझे साधता है, मेरे ऊपर जोर-जुल्म करता है, अत्याचार करता है—वह मेरे आनंदकी छविको वसूल कर लेता है।"

हरिमोहन बड़ी तत्परताके साथ श्रीकृष्णकी बातें सुनने लगा। बालकने फिर कहा—"हरिमोहन, और देखो, शुष्क पुण्य तुम्हारे लिये नीरस हो गया है फिर भी संस्कार-के प्रभावको छोड़ना, इस तुच्छ अहङ्कारको जीतना, तुम्हारे लिये कठिन हो रहा है। इसी तरह वृद्धके लिये पाप नीरस हो गया है फिर भी संस्कारके प्रभावसे वे उसे छोड़ नहीं पाते और इस जीवनमें नरककी यंत्रणा भोग रहे

हैं। इसीको 'पुण्यका बंधन' और 'पापका बंधन' कहते हैं। अज्ञानजनित संस्कार इस बंधनकी रस्सी है। परंतु वृद्धकी यह नरकयंत्रणा बड़ी शुभ अवस्था है। इससे उनका परित्राण और मंगल होगा।"

हरिमोहन अबतक चुपचाप बालककी बातोंको सुन रहा था, अब उसने कहा—"कन्हैया, तेरी बातें तो बड़ी मीठी हैं, किन्तु इनसे मेरा समाधान नहीं हो रहा है। सुख और दुःख मनके विकार हो सकते हैं, किंतु बाह्य अवस्था ही इनका कारण है। देख, क्षुधाकी ज्वालासे जब प्राण छटपटा रहे हों, तब क्या कोई परम सुखी हो सकता है? अथवा जब रोग या यंत्रणासे शरीर कातर हो रहा हो, तब क्या कोई तेरी बात सोच सकता है?"

बालकने कहा—"आओ हरिमोहन, यह भी तुम्हें दिखाऊंगा।"

इतना कहकर बालकने हरिमोहनके सिरपर पुनः अपना हाथ रख दिया। हाथके स्पर्शका बोध होते ही हरिमोहनने देखा कि तीनकौड़ी शीलके मकानका अब कहीं पता भी नहीं है, अब उसके सामने एक निर्जन सुरम्य पर्वतके वायुसेवित शिखरपर एक संन्यासी आसन लगाये ध्यानमग्न अवस्थामें बैठे हैं, उनके चरणोंके पास एक

प्रकांड व्याघ्र प्रहरीकी तरह लेटा हुआ है। बाघको देख-कर हरिमोहनके पैरोंने आगे बढ़ना इनकार कर दिया, किन्तु बालक उसे खींचकर संन्यासीके निकट ले गया। बालकके साथ जोर न लगा सकनेके कारण हरिमोहनको लाचार होकर चलना पड़ा। बालकने कहा—"देखो हरिमोहन।"

हरिमोहनने देखा कि संन्यासीका मन उसकी आंखोंके सामने एक खुली हुई बहीके समान पड़ा हुआ है, इस बहीके प्रत्येक पन्नेपर 'श्रीकृष्ण' नाम हजार-हजार बार लिखा हुआ है। संन्यासी निर्विकल्प समाधिके सिंह-द्वारका अति-क्रमण कर सूर्यलोकमें श्रीकृष्णके संग क्रीड़ा कर रहे हैं। उसने और भी देखा कि संन्यासी कई दिनोंसे अन्न-जलके बिना जीवन बिता रहे हैं तथा गत दो दिनोंसे उनके शरीर-को भूख और प्याससे बहुत कष्ट हो रहा है। हरिमोहनने कहा—"अरे कन्हैया! यह क्या? बाबाजी तुझसे इतना प्रेम करते हैं फिर भी ये भूख-प्यासकी पीड़ा भोग रहे हैं! तुझे क्या जरासी भी समझ नहीं है? इस निर्जन व्याघ्र-संकुल अरण्यमें कौन इन्हें आहार देगा?"

बालकने कहा—"मैं दूंगा, किंतु एक और मजा देखो।"

हरिमोहनने देखा कि बाघने उठकर अपने पंजेके एक आघातसे निकटवर्ती वल्मीकको तोड़ दिया। अब

क्या था, छोटे-छोटे सैकड़ों दीमक निकलकर क्रोधके मारे संन्यासीके बदनपर चढ़कर काटने लगे। संन्यासी ज्यों-के-त्यों ध्यानमग्न, निश्चल, अटल बैठे रहे। अब बालकने संन्यासीके कानमें अति मधुर स्वरसे पुकारा—"सखे !" संन्यासीने आंखें खोलीं। पहले तो उन्होंने इस मोह-ज्वालामय दंशनका अनुभव नहीं किया, अभीतक उनके कानोंमें वही विश्ववांछित, चित्तहारी वंशीध्वनि बज रही थी—ठीक उसी तरह जिस तरह वह वृन्दावनमें श्रीराधा-के कानोंमें बजी थी। उसके बाद उन सैकड़ों दीमकोंके काटनेसे उनकी बुद्धि शरीरकी ओर आकृष्ट हुई। संन्यासी अपने आसनसे हिले नहीं—विस्मयपूर्वक मन-ही-मन कहने लगे—"यह क्या ? मुझे ऐसा तो कभी नहीं हुआ ! ओहो ! यह तो श्रीकृष्ण मेरे संग क्रीड़ा कर रहे हैं, क्षुद्र दीमक-समूहके रूपमें मुझे काट रहे हैं।" हरिमोहनने देखा कि दीमकोंके काटनेकी पीड़ा अब संन्यासीकी बुद्धितक नहीं पहुंचती, प्रत्येक दंशनमें तीव्र शारीरिक आनन्दका अनुभव कर, 'श्रीकृष्ण' नाम लेते हुए तथा अत्यन्त आनन्दपूर्वक तालियां बजाते हुए वे नाचने लगे। दीमक मिट्टीमें गिरकर भाग गये। हरिमोहनने आश्चर्यके साथ पूछा—"कन्हैया, यह क्या माया है ?"

बालकने ताली बजाकर एक पैरके बल एक चक्कर काटा और ठठाकर हंसते हुए कहा–"मैं ही हूं जगत्का एकमात्र जादूगर ! इस मायाको तुम नहीं समझ सकोगे, यह मेरा परम रहस्य है। देखा ? यन्त्रणामें भी संन्यासी मुझे स्मरण कर सके तो ! और देखो।"

संन्यासी अब पुनः प्रकृतिस्थ होकर बैठे, उनका शरीर अब भूख-प्यास अनुभव करने लगा; किन्तु हरिमोहनने देखा कि संन्यासीकी बुद्धि उस शारीरिक विकारका अनुभवमात्र करती है, लेकिन न तो वह उससे विकृत ही हो रही है न लिप्त ही। इसी समय पहाड़परसे किसीने वंशीविनिन्दित स्वरसे पुकारा, "सखे !" हरिमोहन चौंक पड़ा। यह तो श्यामसुन्दरका ही मधुर वंशीविनिन्दित स्वर था। उसके बाद उसने देखा कि चट्टानके पीछेसे एक सुन्दर कृष्णवर्ण बालक थालीमें उत्तम आहार और फल लिये हुए आ रहा है। हरिमोहन हतबुद्धि होकर श्रीकृष्णकी ओर देखने लगा। बालक उसके पास खड़ा है, फिर भी जो बालक आ रहा है, वह भी अविकल श्रीकृष्ण ही है। दूसरा बालक वहां आकर और संन्यासीको रोशनी दिखाकर बोला—"देख, क्या ले आया हूं।"

संन्यासीने हंसकर कहा—"आ गया ? इतने दिनों-

तक भूखा ही रखा न ? खैर, जब आया है तब बैठ, मेरे संग खा ।"

संन्यासी और बालक उस थालीकी सामग्रियोंको खाने लगे, एक दूसरेको खिलाने लगे, आपसमें छीनाझपटी करने लगे । आहार समाप्त होनेपर बालक थाली लेकर अन्धकार-में विलीन हो गया ।

हरिमोहन क्या पूछने ही जा रहा था कि हठात् उसने देखा कि श्रीकृष्ण अब वहां नहीं हैं, संन्यासी भी नहीं हैं, न बाघ और पर्वत ही हैं । अब वह एक भले आदमियोंके गांवमें बास कर रहा है । प्रचुर धन-दौलत है, स्त्री है, परिवार है, नित्य ब्राह्मणोंको दान देता है, भिक्षुकोंको दान देता है, त्रिकाल संध्या करता है, शास्त्रोक्त आचारविचारकी यत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ रघुनंदनप्रदर्शित पथपर चलता है । आदर्श पिता आदर्श स्वामी और आदर्श पुत्र बनकर जीवन यापन करता है । परंतु दूसरे ही क्षण उसने भयभीत होकर देखा कि जो लोग इस भद्र ग्राममें बास करते हैं उनमें लेशमात्र भी सद्भाव या आनन्द नहीं है, ये लोग यंत्रकी तरह बाह्य आचार-रक्षाको ही पुण्य समझते हैं । इस जीवनसे हरिमोहन-को अरम्भमें जितना आनन्द हुआ था, अब उसे उससे उतनी ही यंत्रणा होने लगी । उसे ऐसा मालूम हुआ मानो

उसे भयानक प्यास लगी है, किंतु उसे जल नहीं मिल रहा है, वह धूल फांक रहा है, केवल धूल, एकमात्र धूल, अनन्त धूल खा रहा है। वहांसे भागकर वह एक दूसरे गांवमें गया, वहां एक प्रकांड अट्टालिकाके सामने अपूर्व जनताका और उसके द्वारा दिये गये आशीर्वादका कोलाहल मचा हुआ था। हरिमोहनने कुछ आगे बढ़कर देखा कि तीनकौड़ो शील दालानमें बैठकर उस जनतामें अशेष धन बांट रहे हैं, कोई भी वहांसे निराश होकर नहीं लौट रहा है। हरिमोहन ठठाकर हंस पड़ा, उसने सोचा—"यह कैसा स्वप्न ! तीनकौड़ी शील और दाता !" उसके बाद उसने तीनकौड़ीके मनको देखा। उसे ज्ञात हुआ कि उस मनमें लोभ, ईर्षा, काम, स्वार्थ आदि हजारों प्रकारकी अतृप्तियां और कुप्रवृत्तियां 'दो, दो' कहती हुई चिल्ला रही हैं। तीनकौड़ीने पुण्यके लिये, यशके लिये, गर्वके वश उन भावोंको अतृप्त अवस्थामें ही किसी तरह दबा रखा है, अपने चित्तसे उन्हें दूर नहीं भगाया है। इसी समय हरिमोहनको पकड़कर कोई जल्दी-जल्दी परलोकमेंसे घुमा लाया। हरिमोहन हिन्दूका नरक, ईसाईका नरक, मुसलमानका नरक, यूनानीका नरक, हिंदूका स्वर्ग, ईसाईका स्वर्ग, मुसलमानका स्वर्ग, यूनानीका स्वर्ग— न मालूम और कितने ही नरकों

और कितने ही स्वर्गोंको देख आया। उसके बाद उसने देखा कि वह अपने ही मकानमें, अपनी परिचिता फटी चटाई-पर अपने मैले तोशकका अवलम्ब लेकर बैठा है, सामने ही श्यामसुन्दर खड़े हैं। बालकने कहा—"रात अधिक हो गयी है, यदि मैं घर न लौटूं तो घरवाले सभी मुझे डॉटेंगे, पीटेंगे। संक्षेपमें ही कहता हूं। जिन स्वर्गों और नरकोंको तुमने देखा है, वे सब स्वप्न-जगत्‌के हैं, कल्पनासे सृष्ट हुए हैं। मनुष्य मरनेके बाद स्वर्ग-नरकमें जाता है, अपने गत जन्मके भावको अन्यत्र भोगता है। तुम पूर्वजन्ममें पुण्यवान थे, किन्तु उस जन्ममें प्रेमको तुम्हारे हृदयमें स्थान नहीं मिला। न तुमने ईश्वरसे प्रेम किया न मनुष्यसे। इसलिये प्राण त्याग करनेके बाद स्वप्न-जगत्‌में भले आदमियोंके उस गांवमें निवास करके पूर्व जीवनके भावोंका तुम भोग करने लगे, भोग करते-करते उस भावसे तुम ऊब गये, तुम्हारे प्राण व्याकुल होने लगे और वहांसे निकलकर तुम धूलिमय नरकमें वास करने लगे, अंतमें जीवनके पुण्य फलोंका भोग कर पुनः तुम्हारा जन्म हुआ। उस जीवनमें छोटे-छोटे नैमित्तिक दानोंको छोड़कर, नीरस बाह्य व्यवहारको छोड़कर किसीके अभावको दूर करनेके लिये तुमने कुछ नहीं किया। इसीलिये इस जन्ममें तुम्हें

इतना अभाव है। और अभी भी जो तुम नीरस पुण्य करते हो उसका कारण यही है कि केवल स्वप्न-जगत्के भोगसे पाप-पुण्यका संपूर्ण क्षय नहीं होता, इनका संपूर्ण क्षय तो कर्मफलको पृथ्वीपर भोगनेसे ही होता है। तीनकौड़ी गत जन्ममें दाता कर्ण थे, हजारों व्यक्तियोंके अशीर्वादसे इस जन्ममें लखपती हुए हैं, उन्हें किसी वस्तुका अभाव नहीं हैं। परंतु उनकी चित्तशुद्धि न होनेके कारण उन्हें इस समय अपनी अतृप्त कुप्रवृत्तियोंको पाप-कर्मोंके द्वारा तृप्त करना पड़ रहा है। कर्मवाद समझ गये क्या? न तो यह पुरस्कार है न दंड——यह है अमंगलके द्वारा अमंगलकी और मंगलके द्वारा मगलकी सृष्टि। यह प्रकृतिका नियम है। पाप अशुभ है, उसके द्वारा दुःखकी सृष्टि होती है; पुण्य शुभ है, उसके द्वारा सुखकी सृष्टि होती है। यह व्यवस्था चित्तकी शुद्धिके लिये, अशुभके विनाशके लिये की गयी है। देखो हरिमोहन, पृथ्वी मेरे वैचित्र्यमय जगत्का एक अति क्षुद्र अंश है, किन्तु कर्मके द्वारा अशुभका नाश करनेके लिये तुम लोग यहां जन्म ग्रहण करते हो। जब पाप-पुण्यके हाथोंसे परित्राण पाकर तुम लोग प्रेम-राज्यमें पदार्पण करते हो तब इस कार्यसे छुटकारा पा जाते हो। अगले जन्ममें तुम भी छुटकारा पाओगे। मैं अपनी प्रिय भगिनी शक्ति और

उसकी सहचरी विद्याको तुम्हारे पास भेजूंगा, परंतु देखो, एक शर्त है, तुम्हें मेरे इस खेलका साथी बनना होगा, मुक्ति नहीं मांग सकोगे। क्यों, राजी हो?"

हरिमोहनने कहा--"कन्हैया! तूने मेरा बड़ा उपकार किया! तुझे गोदमें लेकर प्यार करनेकी बड़ी इच्छा होती है; ऐसा मालूम होता है मानो इस जीवनमें मुझे अब कोई वासना नहीं रह गयी है।"

बालकने हंसकर कहा--"हरिमोहन, कुछ समझा?"

हरिमोहनने उत्तर दिया--"क्यों नहीं समझा?" इसके बाद उसने कुछ सोचकर कहा--"अरे कन्हैया, तूने फिर मुझे ठगा। अशुभका सृजन तूने क्यों किया इसकी तो कोई कैफियत दी ही नहीं।" इतना कहकर उसने बालकका हाथ पकड़ लिया। बालकने अपना हाथ छुड़ाकर और हरिमोहनको धमकाते हुए कहा-"दूर हटो एक घंटेमें ही मेरी सभी गुप्त बातें कहला लेना चाहते हो?" इतना कहकर बालकने हठात् दीपक बुझा दिया और हरिमोहनसे कुछ दूर हटकर हंसते हुए कहा-"क्यों हरिमोहन, चाबुक मारना तो तुम एकदम भूल ही गये। इसी भयसे मैं तुम्हारी गोदमें नहीं बैठा कि कहीं तुम बाह्य दुःखसे क्रुद्ध होकर मुझे अच्छी तरह पीटने न लगो! तुमपर मेरा लेशमात्र भी विश्वास नहीं है।"

हरिमोहनने अंधकारमें अपना हाथ बढ़ाया, किन्तु बालक और अधिक दूर हट गया और बोला—"नहीं, इस सुखको मैं तुम्हारे दूसरे जन्मके लिये बाकी रख छोड़ता हूं। अच्छा, अब चलता हूं।"

इतना कहकर उस अंधेरी रातमें बालक न जाने कहां अदृश्य हो गया। हरिमोहन उसकी नूपुरध्वनिको सुनते-सुनते जग उठा। जगकर उसने सोचा, "यह कैसा स्वप्न देखा! नरक देखा, स्वर्ग देखा, और भगवान्‌को तू कहा, छोटासा बालक समझकर कितना डांटा, डपटा! कैसा पाप किया! परंतु जो हो, प्राणमें एक अपूर्व शांतिका अनुभव कर रहा हूं।" हरिमोहन अब उस कृष्णवर्ण बालककी मोहिनी मूर्त्तिको स्मरण करने लगा और बीच-बीचमें कहने लगा, "कितनी सुंदर, कितनी सुंदर!"

श्रीअरविन्द आश्रम मुद्रणालय पांडीचेरी
W.D. No.78, 27-4-46, 1500